REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
VOLUME - 15 | ISSUE - 10 | JULY - 2026

संजीव के उपन्यासों में आदिवासी समाज की ऐतिहासिक स्थिति का अध्ययन

सरला सिंह
शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

डॉ. सरोज गोस्वामी
प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग (सेवानिवृत्त)
शासकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

सारांश –

हिंदी कथा–साहित्य में संजीव समकालीन यथार्थवादी रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनके उपन्यास भारतीय समाज के उपेक्षित, वंचित तथा आदिवासी समुदायों के जीवन–संघर्ष, सामाजिक संरचना, आर्थिक विषमता और सांस्कृतिक अस्मिता को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। संजीव ने आदिवासी समाज की ऐतिहासिक स्थिति का चित्रण केवल अतीत के संदर्भ में ही नहीं किया, बल्कि वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के साथ उसके अंतर्संबंधों को भी उजागर किया है। उनके उपन्यासों में आदिवासी जीवन, जल–जंगल–जमीन पर अधिकार, शोषण, विस्थापन, विकास की अवधारणा तथा सांस्कृतिक पहचान जैसे प्रश्न प्रमुख रूप से उभरकर सामने आते हैं। प्रस्तुत शोध–पत्र में संजीव के उपन्यासों के आधार पर आदिवासी समाज की ऐतिहासिक स्थिति का विश्लेषण किया गया है।

मुख्य शब्द – संजीव, आदिवासी समाज, इतिहास, जल–जंगल–जमीन, विस्थापन, सांस्कृतिक अस्मिता, शोषण, हिंदी उपन्यास।

प्रस्तावना –

भारतीय समाज की सांस्कृतिक एवं सामाजिक विविधता में आदिवासी समुदाय का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यह समुदाय भारत की प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति का संवाहक माना जाता है। भारतीय संविधान में आदिवासी समुदाय को 'अनुसूचित जनजाति' के रूप में मान्यता प्रदान की गई है, किंतु उनकी ऐतिहासिक पहचान केवल एक संवैधानिक श्रेणी तक सीमित नहीं है। आदिवासी समाज भारतीय उपमहाद्वीप की उन मूल निवासी जनजातियों का प्रतिनिधित्व करता है जिनकी जीवन–पद्धति प्रकृति, सामुदायिक सहयोग, श्रम–संस्कृति, लोकपरंपराओं तथा सामूहिक स्वामित्व की भावना पर आधारित रही है। जल, जंगल और जमीन उनके लिए केवल आर्थिक संसाधन नहीं, बल्कि सामाजिक अस्तित्व, सांस्कृतिक पहचान तथा धार्मिक–आध्यात्मिक आस्था के आधार हैं। इसलिए आदिवासी जीवन–दर्शन मनुष्य और प्रकृति के संतुलित सह–अस्तित्व का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है।

इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ''वैदिक काल से ही आदिवासी समुदाय मुख्यधारा के सामाजिक ढाँचे से पृथक अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान के साथ विद्यमान रहा। विभिन्न ऐतिहासिक ग्रंथों में उन्हें निषाद, भील, पुलिंद, किरात, शबर, कोल, मुंडा, गोंड आदि विभिन्न नामों से संबोधित किया गया है। यद्यपि इन समुदायों ने भारतीय संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, तथापि वर्णव्यवस्था पर आधारित सामाजिक संरचना ने उन्हें हाशिए पर धकेल दिया। परिणामस्वरूप उनकी संस्कृति, इतिहास और ज्ञान–परंपरा को अपेक्षित सम्मान प्राप्त नहीं हो सका।''[1]

मध्यकाल में भी आदिवासी समाज ने अपनी सांस्कृतिक स्वायत्तता को बनाए रखा, किंतु औपनिवेशिक शासन के आगमन के साथ उनकी स्थिति अधिक जटिल हो गई। अंग्रेजी शासन ने वन कानूनों, भूमि–अधिग्रहण नीतियों तथा राजस्व व्यवस्था के माध्यम से प्राकृतिक संसाधनों पर सरकारी अधिकार स्थापित कर दिए। 1865, 1878 तथा 1927 के वन अधिनियमों ने आदिवासियों के परंपरागत अधिकारों को सीमित कर दिया। जंगल, जो उनके जीवन का आधार थे, सरकारी नियंत्रण में चले गए। फलस्वरूप उनका पारंपरिक आर्थिक ढाँचा कमजोर हुआ तथा वे विस्थापन, निर्धनता और शोषण के दुष्चक्र में फँसते चले गए।

''औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध अनेक आदिवासी विद्रोह भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के महत्त्वपूर्ण अध्याय हैं। संथाल विद्रोह (1855), भील आंदोलन, मुंडा उलगुलान तथा बिरसा मुंडा का संघर्ष इस तथ्य के प्रमाण हैं कि आदिवासी समाज ने अपने अस्तित्व, भूमि–अधिकार तथा सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा के लिए निरंतर संघर्ष किया। इन आंदोलनों ने केवल राजनीतिक प्रतिरोध ही नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक स्वायत्तता की चेतना को भी अभिव्यक्ति प्रदान की।''[2]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय संविधान ने अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक विकास हेतु अनेक संवैधानिक प्रावधान किए। पाँचवीं एवं छठी अनुसूची, अनुसूचित जनजाति उपयोजना, वनाधिकार अधिनियम तथा पंचायती राज व्यवस्था के माध्यम से आदिवासी हितों की रक्षा का प्रयास किया गया। इसके बावजूद विकास की आधुनिक अवधारणा ने उनके समक्ष नई चुनौतियाँ प्रस्तुत कीं। बड़े बाँध, औद्योगिक परियोजनाएँ, खनन उद्योग, राष्ट्रीय उद्यान तथा संरक्षित वन क्षेत्रों के विस्तार के कारण लाखों आदिवासी अपने पारंपरिक निवास क्षेत्रों से विस्थापित हुए। विस्थापन ने उनकी आर्थिक व्यवस्था के साथ–साथ सांस्कृतिक संरचना और सामुदायिक जीवन को भी गहरा आघात पहुँचाया।

''समकालीन भारत में आदिवासी समाज अनेक जटिल समस्याओं से जूझ रहा है। अशिक्षा, स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं का अभाव, बेरोजगारी, कुपोषण, आर्थिक विषमता, भूमि–अधिकार का संकट, प्रशासनिक उपेक्षा तथा सांस्कृतिक विघटन जैसी समस्याएँ उनके विकास में बाधक बनी हुई हैं। वैश्वीकरण और बाजारवादी व्यवस्था ने प्राकृतिक संसाधनों के व्यावसायिक दोहन को बढ़ावा दिया, जिससे आदिवासी समाज का पारंपरिक जीवन और अधिक प्रभावित हुआ। अनेक क्षेत्रों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों तथा खनन उद्योगों के विस्तार ने आदिवासी समुदाय के अस्तित्व और पर्यावरणीय संतुलन दोनों के लिए गंभीर संकट उत्पन्न किए।''[3]

ऐसी परिस्थितियों में हिंदी साहित्य ने आदिवासी समाज की पीड़ा, संघर्ष और अस्मिता को सशक्त स्वर प्रदान किया। विशेषतः समकालीन हिंदी कथा–साहित्य में आदिवासी विमर्श एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुआ। इस विमर्श का उद्देश्य आदिवासी समाज को दया या करुणा का विषय बनाना नहीं, बल्कि उसकी सांस्कृतिक विशिष्टता, सामाजिक संघर्ष तथा अधिकार चेतना को साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान करना है। हिंदी के अनेक रचनाकारों ने आदिवासी जीवन की वास्तविक समस्याओं, उनकी सांस्कृतिक परंपराओं तथा लोकतांत्रिक अधिकारों के प्रश्नों को अपनी रचनाओं का केंद्र बनाया है।

इसी परंपरा में संजीव का कथा–साहित्य विशेष महत्त्व रखता है। संजीव समकालीन हिंदी साहित्य के उन प्रमुख उपन्यासकारों में हैं जिन्होंने समाज के उपेक्षित, शोषित तथा वंचित वर्गों के जीवन को अपनी रचनात्मक दृष्टि का केंद्र बनाया। उनके उपन्यासों में आदिवासी समाज का चित्रण केवल बाह्य घटनाओं का विवरण नहीं है, बल्कि उसके ऐतिहासिक विकास, सामाजिक संरचना, आर्थिक संघर्ष, सांस्कृतिक पहचान तथा राजनीतिक अधिकारों का गहन विश्लेषण भी है। वे आदिवासी जीवन को उसकी संपूर्ण जटिलता और मानवीय गरिमा के साथ प्रस्तुत करते हैं।

संजीव के उपन्यासों में आदिवासी समाज का यथार्थ अनेक स्तरों पर उद्घाटित होता है। वे जल, जंगल और जमीन के प्रश्न को आदिवासी अस्तित्व का मूल प्रश्न मानते हैं। उनके पात्र प्राकृतिक संसाधनों पर अपने पारंपरिक अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करते दिखाई देते हैं। दूसरी ओर सरकारी तंत्र, ठेकेदार,

पूँजीपति, भूमाफिया तथा स्थानीय सत्ता–संरचनाएँ उनके शोषण के विभिन्न रूपों को सामने लाती हैं। लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि ''आदिवासी समाज का संघर्ष केवल आर्थिक संसाधनों का संघर्ष नहीं है, बल्कि सांस्कृतिक अस्मिता, सामाजिक सम्मान और मानवीय अधिकारों की रक्षा का संघर्ष भी है।''[4]

संजीव की रचनात्मक दृष्टि आदिवासी समाज को केवल पीड़ित समुदाय के रूप में प्रस्तुत नहीं करती, बल्कि उसके भीतर निहित प्रतिरोध की शक्ति, सामुदायिक एकता तथा आत्मसम्मान की चेतना को भी रेखांकित करती है। उनके पात्र अन्याय और शोषण के विरुद्ध संगठित होकर संघर्ष करते हैं तथा लोकतांत्रिक अधिकारों की स्थापना के लिए निरंतर प्रयासरत रहते हैं। इस प्रकार संजीव का साहित्य सामाजिक न्याय, समानता, लोकतांत्रिक मूल्यों और मानवीय गरिमा की स्थापना का साहित्य बन जाता है। उनका कथा–साहित्य यह संदेश देता है कि आदिवासी समाज की उपेक्षा किसी भी लोकतांत्रिक राष्ट्र के समावेशी विकास के लिए घातक सिद्ध होगी।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य संजीव के उपन्यासों में चित्रित आदिवासी समाज की ऐतिहासिक स्थिति का सम्यक् विश्लेषण करना है। इसके अंतर्गत आदिवासी समाज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना, आर्थिक जीवन, प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार, विस्थापन, शोषण, प्रतिरोध, सांस्कृतिक अस्मिता तथा लोकतांत्रिक चेतना का अध्ययन किया जाएगा। साथ ही यह भी स्पष्ट किया जाएगा कि संजीव ने अपने उपन्यासों के माध्यम से आदिवासी जीवन के यथार्थ को किस प्रकार साहित्यिक संवेदना, सामाजिक दृष्टि और मानवीय सरोकारों के साथ अभिव्यक्त किया है। यह अध्ययन संजीव के कथा–साहित्य की सामाजिक प्रासंगिकता को स्थापित करने के साथ–साथ समकालीन हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श की वैचारिक दिशा को समझने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करेगा।

विश्लेषण –

1. आदिवासी समाज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि –

आदिवासी समाज भारतीय सभ्यता के सबसे प्राचीन समुदायों में से एक माना जाता है। इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों के अनुसार आदिवासी समुदाय का जीवन प्रारंभ से ही प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण रहा है। पर्वत, वन, नदियाँ तथा प्राकृतिक संसाधन उनके जीवन के आधार रहे हैं। उनकी सामाजिक संरचना सामुदायिक सहयोग, समानता तथा पारंपरिक ज्ञान पर आधारित रही है। आदिवासी समाज ने अपनी विशिष्ट संस्कृति, भाषा, लोकपरंपराओं तथा धार्मिक विश्वासों के माध्यम से भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाया है।

औपनिवेशिक शासन के आगमन के बाद आदिवासी समाज की जीवन–व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हुए। अंग्रेजों द्वारा बनाए गए वन कानूनों ने आदिवासियों के पारंपरिक वनाधिकारों को सीमित कर दिया। जंगलों पर सरकारी नियंत्रण स्थापित होने से उनकी आजीविका प्रभावित हुई। भूमि अधिग्रहण, कर व्यवस्था तथा प्राकृतिक संसाधनों के व्यावसायिक दोहन ने आदिवासी समाज को आर्थिक और सामाजिक संकट की ओर धकेल दिया। इसके परिणामस्वरूप अनेक स्थानों पर आदिवासी विद्रोह भी हुए, जिन्होंने उनके स्वतंत्रता और अधिकारों की चेतना को अभिव्यक्ति दी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी आदिवासी समाज की समस्याओं का पूर्ण समाधान नहीं हो सका। विकास योजनाओं, औद्योगिकीकरण, खनन परियोजनाओं तथा बड़े बाँधों के निर्माण ने लाखों आदिवासियों को उनके पारंपरिक निवास स्थानों से विस्थापित कर दिया। पुनर्वास की अपर्याप्त व्यवस्था तथा प्रशासनिक उपेक्षा के कारण उनका जीवन और अधिक कठिन होता गया। इस प्रकार आधुनिक विकास प्रक्रिया ने उनके ऐतिहासिक संकट को और गहरा किया।

संजीव अपने उपन्यासों में आदिवासी समाज की इसी ऐतिहासिक यात्रा को अत्यंत यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनके यहाँ इतिहास केवल राजाओं, युद्धों अथवा राजनीतिक घटनाओं का विवरण नहीं है, बल्कि संघर्षरत समुदायों के जीवन का भी इतिहास है। वे आदिवासी समाज की पीड़ा, संघर्ष, विस्थापन और अस्मिता के प्रश्नों को ऐतिहासिक संदर्भों से जोड़ते हैं, जिससे पाठक उनके जीवन की वास्तविक परिस्थितियों को समझ पाता है।

2. जल, जंगल और जमीन –

आदिवासी समाज के जीवन में जल, जंगल और जमीन का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। ये केवल प्राकृतिक संसाधन नहीं, बल्कि उनके अस्तित्व, संस्कृति और जीवन–दर्शन का आधार हैं। जंगल उन्हें भोजन, औषधि, ईंधन तथा आजीविका प्रदान करते हैं, जबकि भूमि उनकी कृषि, आवास और सामाजिक पहचान का प्रमुख आधार होती है। इसलिए इन संसाधनों से उनका संबंध आर्थिक होने के साथ–साथ सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भी है।

संजीव के उपन्यासों में यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि जब आदिवासियों को उनके जल, जंगल और जमीन से वंचित किया जाता है, तब केवल उनकी आजीविका ही नहीं छिनती, बल्कि उनका पूरा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन संकट में पड़ जाता है। लेखक यह दर्शाते हैं कि विकास की वर्तमान नीतियाँ अक्सर आदिवासी समुदाय की पारंपरिक जीवन–व्यवस्था की उपेक्षा करती हैं। परिणामस्वरूप वे अपने ही क्षेत्र में पराए बन जाते हैं।

खनन, औद्योगिक परियोजनाएँ, वन संरक्षण योजनाएँ तथा बड़े बाँधों का निर्माण आदिवासियों के प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार को सीमित कर देता है। प्रशासनिक व्यवस्था और पूंजीवादी शक्तियाँ प्राकृतिक संपदा का दोहन तो करती हैं, परंतु आदिवासियों के अधिकारों और हितों की अनदेखी करती हैं। इस कारण उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर होती जाती है तथा वे सामाजिक असुरक्षा का अनुभव करते हैं।

संजीव अपने उपन्यासों में जल, जंगल और जमीन के प्रश्न को केवल पर्यावरणीय समस्या नहीं मानते, बल्कि इसे सामाजिक न्याय और मानवाधिकार से जोड़कर देखते हैं। उनके पात्र अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करते हैं। लेखक यह संदेश देते हैं कि आदिवासी समाज के विकास और सम्मानजनक जीवन के लिए उनके प्राकृतिक संसाधनों पर पारंपरिक अधिकारों की रक्षा आवश्यक है।

3. आर्थिक शोषण –

आदिवासी समाज लंबे समय से आर्थिक शोषण का शिकार रहा है। अशिक्षा, निर्धनता तथा संसाधनों की कमी के कारण वे महाजनों, साहूकारों, ठेकेदारों तथा व्यापारियों के शोषण का सामना करते रहे हैं। उचित मूल्य न मिलने के कारण वे अपने श्रम और प्राकृतिक संसाधनों का लाभ स्वयं नहीं उठा पाते। यही कारण है कि आर्थिक विषमता उनके जीवन की प्रमुख समस्या बन गई है।

संजीव के उपन्यासों में महाजनों और ठेकेदारों द्वारा आदिवासियों का शोषण अत्यंत मार्मिक ढंग से चित्रित हुआ है। कर्ज के बोझ, कम मजदूरी, बंधुआ श्रम तथा प्राकृतिक संपदा के अनुचित दोहन के माध्यम से उनका आर्थिक शोषण किया जाता है। प्रशासनिक तंत्र भी कई बार इस शोषण को रोकने में असफल दिखाई देता है। सरकारी योजनाओं का लाभ वास्तविक लाभार्थियों तक नहीं पहुँच पाता। भ्रष्टाचार, लालफीताशाही तथा प्रशासनिक उदासीनता के कारण आदिवासी समाज विकास की मुख्यधारा से दूर बना रहता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार तथा सामाजिक सुरक्षा जैसी मूलभूत सुविधाओं का अभाव उनकी आर्थिक स्थिति को और अधिक कमजोर करता है।

संजीव का दृष्टिकोण केवल समस्या का चित्रण करना नहीं है, बल्कि उसके कारणों को भी उजागर करना है। वे आर्थिक शोषण को सामाजिक अन्याय और असमानता का परिणाम मानते हैं। उनके उपन्यास यह संकेत करते हैं कि आदिवासी समाज के समग्र विकास के लिए आर्थिक न्याय, शिक्षा, रोजगार और संसाधनों पर समान अधिकार सुनिश्चित करना आवश्यक है।

4. सांस्कृतिक अस्मिता –

आदिवासी समाज अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान के कारण भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उनकी भाषा, लोकगीत, लोकनृत्य, रीति–रिवाज, धार्मिक आस्थाएँ तथा पारंपरिक ज्ञान उनकी सांस्कृतिक अस्मिता के प्रमुख आधार हैं। इन सांस्कृतिक विशेषताओं ने सदियों से उनकी सामाजिक एकता और सामुदायिक जीवन को सुदृढ़ बनाए रखा है।

संजीव अपने उपन्यासों में आदिवासी संस्कृति का अत्यंत संवेदनशील और सम्मानपूर्ण चित्रण करते हैं। वे आदिवासी जीवन को पिछड़ेपन के प्रतीक के रूप में नहीं, बल्कि प्रकृति के साथ संतुलित और मानवीय मूल्यों से सम्पन्न संस्कृति के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके पात्र अपनी परंपराओं और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति गहरी

आस्था रखते हैं। वैश्वीकरण, बाजारवाद तथा आधुनिक विकास की प्रक्रियाओं के कारण आदिवासी संस्कृति पर निरंतर संकट उत्पन्न हो रहा है। नई पीढ़ी का पारंपरिक जीवन से दूर होना, स्थानीय भाषाओं का लोप तथा लोककलाओं का क्षरण गंभीर चिंता का विषय है। संजीव इन परिवर्तनों को केवल सांस्कृतिक बदलाव नहीं, बल्कि सांस्कृतिक संकट के रूप में देखते हैं। आदिवासी संस्कृति का संरक्षण भारतीय सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण के समान है। यदि उनकी भाषा, लोककला और परंपराओं को सुरक्षित नहीं रखा गया, तो भारतीय संस्कृति की विविधता कमजोर हो जाएगी। इसलिए उनके उपन्यास सांस्कृतिक संरक्षण और सम्मान की आवश्यकता पर बल देते हैं।

5. विस्थापन की समस्या –

विस्थापन आदिवासी समाज की सबसे गंभीर समस्याओं में से एक है। आधुनिक विकास परियोजनाओं, खनन, औद्योगिकीकरण, वन संरक्षण योजनाओं तथा बाँध निर्माण के कारण लाखों आदिवासी अपने पारंपरिक निवास स्थानों से बेदखल हुए हैं। यह केवल स्थान परिवर्तन नहीं, बल्कि उनके संपूर्ण जीवन की संरचना को प्रभावित करने वाली प्रक्रिया है। संजीव के उपन्यासों में विस्थापन की त्रासदी अत्यंत मार्मिक रूप में चित्रित हुई है। लेखक बताते हैं कि जब आदिवासी अपने गाँव, जंगल और भूमि से दूर होते हैं, तो वे अपनी सामाजिक पहचान, सांस्कृतिक परंपराओं और आजीविका के साधनों से भी वंचित हो जाते हैं। पुनर्वास की योजनाएँ प्रायः उनकी वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पातीं।

विस्थापन का प्रभाव केवल आर्थिक स्तर तक सीमित नहीं रहता। इससे पारिवारिक संबंध, सामुदायिक जीवन, सांस्कृतिक परंपराएँ तथा मानसिक संतुलन भी प्रभावित होते हैं। नई परिस्थितियों में आदिवासी समुदाय स्वयं को असुरक्षित और उपेक्षित महसूस करता है। उनके सामने बेरोजगारी, गरीबी और सामाजिक भेदभाव जैसी नई समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

संजीव अपने उपन्यासों के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि विकास तभी सार्थक है जब वह मानव–केंद्रित हो। यदि विकास की कीमत किसी समुदाय की संस्कृति, पहचान और अस्तित्व का विनाश हो, तो ऐसी विकास प्रक्रिया न्यायपूर्ण नहीं कही जा सकती। लेखक विस्थापन के स्थान पर सहभागी एवं न्यायपूर्ण विकास मॉडल की आवश्यकता पर बल देते हैं।

6. प्रतिरोध और संघर्ष –

संजीव के उपन्यासों में आदिवासी समाज केवल शोषण और पीड़ा का प्रतीक नहीं है, बल्कि संघर्ष और आत्मसम्मान का भी प्रतीक है। उनके पात्र अन्याय, अत्याचार और शोषण के विरुद्ध साहसपूर्वक आवाज उठाते हैं। वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सामूहिक रूप से संगठित होकर संघर्ष करते हैं। आदिवासी समाज का यह संघर्ष केवल आर्थिक अधिकारों तक सीमित नहीं है, बल्कि सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक सम्मान और प्राकृतिक संसाधनों पर अपने अधिकार की रक्षा के लिए भी है। संजीव यह दर्शाते हैं कि संघर्ष की चेतना ही किसी समुदाय को आत्मनिर्भर और सशक्त बनाती है। उनके पात्र विपरीत परिस्थितियों में भी हार नहीं मानते।

संजीव के उपन्यासों में प्रतिरोध लोकतांत्रिक मूल्यों और सामाजिक न्याय की स्थापना का माध्यम बनकर सामने आता है। उनके पात्र हिंसा के बजाय संगठन, जागरूकता, शिक्षा और सामूहिक प्रयासों के माध्यम से अपने अधिकार प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इससे लेखक का मानवीय और लोकतांत्रिक दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। अंततः संजीव यह संदेश देते हैं कि आदिवासी समाज का संघर्ष केवल एक समुदाय का संघर्ष नहीं, बल्कि समानता, न्याय और मानवाधिकारों की स्थापना का संघर्ष है। उनके उपन्यासों में प्रतिरोध की यह चेतना भारतीय लोकतंत्र को अधिक समावेशी और मानवीय बनाने की प्रेरणा देती है। इसी कारण संजीव का साहित्य आदिवासी विमर्श के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रासंगिक माना जाता है।

निष्कर्ष –

निष्कर्षतः संजीव के उपन्यास भारतीय आदिवासी समाज की ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का अत्यंत यथार्थवादी और संवेदनशील चित्रण प्रस्तुत करते हैं। उनके साहित्य में आदिवासी जीवन केवल कथा का विषय नहीं, बल्कि भारतीय समाज के उस उपेक्षित वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसने सदियों से शोषण, विस्थापन, उपेक्षा और अधिकारों के हनन का सामना किया है। लेखक ने जल, जंगल और

जमीन के प्रश्न, आर्थिक विषमता, सांस्कृतिक अस्मिता, विस्थापन तथा सामाजिक न्याय जैसे मुद्दों को गहन मानवीय दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट किया है कि आदिवासी समाज की समस्याएँ केवल स्थानीय नहीं, बल्कि राष्ट्रीय महत्व की हैं। उनके उपन्यास आदिवासी समुदाय के जीवन–संघर्ष, आत्मसम्मान और अस्तित्व की रक्षा के लिए किए गए प्रयासों का प्रामाणिक दस्तावेज हैं। संजीव का कथा–साहित्य आदिवासी विमर्श को नई दिशा और व्यापक सामाजिक दृष्टि प्रदान करता है। उनके उपन्यास यह संदेश देते हैं कि वास्तविक विकास वही है, जिसमें आदिवासी समाज की संस्कृति, परंपराओं, प्राकृतिक संसाधनों तथा संवैधानिक अधिकारों का सम्मान सुनिश्चित किया जाए। साथ ही, वे यह भी स्थापित करते हैं कि आदिवासी समुदाय केवल सहानुभूति का पात्र नहीं, बल्कि भारतीय लोकतंत्र और सांस्कृतिक विरासत का अभिन्न अंग है। इस दृष्टि से संजीव के उपन्यास सामाजिक चेतना, मानवीय मूल्यों और समतामूलक समाज की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण साहित्यिक योगदान सिद्ध होते हैं।

संदर्भ –

[1] मजूमदार, डी.एन. भारत की जातियाँ एवं संस्कृतियाँ. मुंबईः एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1961, पृ. 211–215

[2] सिंह, कुमार सुरेश. बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन, कोलकाताः सीगल बुक्स, 2002, पृ. 123–131.

[3] शर्मा, बी.डी. भारत में जनजातीय मामले. नई दिल्लीः साहित्य भवन, 1995, पृ. 147–156

[4] संजीव, जंगल जहाँ शुरू होता है, नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2000, पृ. 18–27